

भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ

सारांश

दर्शनशास्त्र एक ऐसा विषय है, जिसके अन्दर लौकिक एवं पारलौकिक जगत् को जानने-समझने के सभी मार्ग हमें मिल जाते हैं। साथ ही दर्शनशास्त्र के द्वारा ही हम जीवन एवं समाज की प्रायः सभी समस्याओं का समाधान निकाल सकते हैं। दर्शनशास्त्र क्या है ? Philosophy क्या है ? तथा दर्शन एवं Philosophy में क्या अन्तर है ? आदि को स्पष्ट करने के लिये सर्वप्रथम हमें दर्शनशास्त्र एवं Philosophy को समझना पड़ता है, तत्पश्चात् हम उन मार्गों की खोजबीन करते हैं जिनके द्वारा हम जीवन एवं जगत् की समस्याओं का समाधान कर सकें। इस प्रयास को जब हम जानने का प्रयास करते तो हमें भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों में अनेक प्रकार की पद्धतियाँ मिलती हैं, जिनको भारतीय दर्शन की शोध पद्धतियाँ, पाश्चात्य दर्शन की शोध पद्धतियाँ, समाज दर्शन की शोध पद्धतियाँ, धर्म दर्शन की शोध पद्धतियाँ, एवं समकालीन दर्शन की शोध पद्धतियों में विभाजित कर सकते और बता सकते हैं कि इन पद्धतियों के द्वारा दर्शनशास्त्र विषय में शोध करने वाला शोधार्थी कैसे लाभ उठा सकता है, विशेष रूप से भारतीय दर्शन में शोध करने के लिये शोधार्थी को सर्वप्रथम निम्नलिखित पद्धतियों जैसे :- श्रमनि-प्रविधि, आलोचनात्मक विश्लेषण प्रविधि, व्याख्या प्रविधि, काव्य प्रविधि, दृष्टान्त प्रविधि, संवाद प्रविधि आदि का अध्ययन कर लेना चाहिए।

मुख्य शब्द : दर्शनशास्त्र, प्रविधि, अन्वेषण, दृष्टिकोण, आध्यात्मिक, उपनिषद्, भारतीय, वेद।

प्रस्तावना

दर्शनशास्त्र का अर्थ

दर्शनशास्त्र क्या है ? यह एक जटिल एवं बौद्धिक प्रश्न है, क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक विद्वान विभिन्न रूपों में देते हैं। प्रायः दर्शनशास्त्र की शब्दोत्पत्ति बताकर इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है, परन्तु सामान्य रूप से दर्शनशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसके अन्तर्गत ज्ञान एवं संबंधित समस्याओं का विधिवत् गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाता है और यही अर्थ 'Philosophy' शब्द से अवतरित होता है, क्योंकि अंग्रेजी का शब्द 'Philosophy' दो यूनानी शब्दों से उत्पन्न बताया जाता है, अर्थात् 'Philo' जिसका अर्थ है 'प्रेम अथवा अनुराग' अर्थात् Love, और 'Sophia' जिसका अर्थ है 'विद्या अथवा ज्ञान अर्थात् 'Knowledge or Wisdom'। इस प्रकार दर्शनशास्त्र का शब्दिक अर्थ है 'विद्यानुराग' और पाश्चात्य जगत् में Philosophy का यही अर्थ प्रचलित है और भारतीय दार्शनिक परम्परा में भी दर्शनशास्त्र का उपरोक्त भाव ही अन्तर्निहित है। भारतीय परम्परा में बताया जाता है कि 'दर्शन' शब्द संस्कृत भाषा की 'दृश्' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ होता है 'देखना'। परन्तु क्या देखना ? उत्तर- सत्य के प्रति जिज्ञासा और उसका साक्षात्कार। इस प्रकार 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए अथवा तत्त्व ज्ञान हो। इस प्रकार पाश्चात्य एवं भारतीय दोनों दर्शनशास्त्र को ज्ञान से 'Wisdom' से जोड़ते हैं। अन्य शब्दों में दर्शनशास्त्र कुछ विशिष्ट समस्याओं को विशिष्ट दृष्टिकोण और विशिष्ट विधियों से हल करने की एक चिन्तन प्रक्रिया है, जो सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही हैं। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने तो दर्शनशास्त्र को 'प्रथम विज्ञान' First Science माना है, क्योंकि उसमें समस्त अस्तित्व अर्थात् सम्पूर्ण विश्व के सभी पक्षों का गहन अध्ययन किया जाता है।

चूंकि दर्शन जिज्ञासा एवं दुःख के समाधान हेतु विभिन्न तरीकों से अनुसंधान करता है तो इस अनुसंधान एवं अन्वेषण को जानना अति आवश्यक है, जिसमें खोज, अनुसंधान एवं अन्वेषण का अर्थ है नई चीजों व तथ्यों के ज्ञान में अभिरूचि अथवा वह खोज जिसमें जिज्ञासा एवं ज्ञान की प्राप्ति का समावेश होता है। किसी भी अन्वेषण में अन्वेषी मन की पूर्व शर्त होती है, क्योंकि अन्वेषण का आरंभ जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ही होता है। जैसे मनुष्य अपने तथा जगत् के संबंध में यह जानने का यत्न करता है कि हम कहां से आए और कहां जा रहे हैं, और यह जगत् क्या है अथवा कैसे उत्पन्न हुआ ? ये प्रश्न हमें अन्वेषण की



पिताम्बर दास

असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शन शास्त्र विभाग,
एम0 जी0 काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

आर ले जाते हैं। यह अन्वेषण का सामान्य अर्थ है। परन्तु अब प्रश्न है कि 'दार्शनिक अन्वेषण क्या है, उसका स्वरूप एवं विषय क्या है ?

दार्शनिक अनुसंधान का अर्थ

दार्शनिक खोज, अनुसंधान एवं अन्वेषण जीवन के प्रति उदासीनता, बेचैनी अथवा असन्तोष एवं जिज्ञासा की भावना से प्रारंभ होता है। मानव मन यह जानने का यत्न करता है कि वह स्वयं क्या है और क्यों या किसके लिए जीता है। दार्शनिक अनुसंधान एवं अन्वेषण की प्रकृति या स्वरूप क्या है ? इसका कोई एक निश्चित उत्तर नहीं है, क्योंकि वह कोई गणितय तथा तथ्यात्मक विश्लेषण नहीं है। अपितु दार्शनिक अन्वेषण एवं अनुसंधान, वैज्ञानिक अन्वेषण से भिन्न, मूलतः दार्शनिक, चिन्तनात्मक अथवा जिज्ञासात्मक होता है। इसके अन्तर्गत दार्शनिक समस्यायें, दार्शनिक दृष्टिकोण, दार्शनिक विधि तथा दार्शनिक लक्ष्यों का समावेश होता है और दार्शनिक अन्वेषण का स्वरूप समीक्षात्मक एवं समन्वयात्मक होता है। उसमें विभिन्न विज्ञानों या विद्याओं के निष्कर्षों तथा मान्यताओं की समीक्षा की जाती है। दार्शनिक अनुसंधान मात्र कोई कल्पना नहीं है और न ही कोई दिव्यास्वप्न है, क्योंकि दार्शनिक अन्वेषण न केवल जगत् की व्याख्या करता है, अपितु वह उसके नव-निर्माण के स्वरूप का मार्ग भी दिखाता है। दार्शनिक शोध का स्वरूप चिन्तनात्मक होते हुए भी उसमें व्यवस्थित प्रक्रिया पाई जाती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत आगमन, निगमन, विश्लेषण, संश्लेषण और द्वंद्वात्मक विधियों का विधिवत् प्रयोग किया जाता है। दार्शनिक शोध तथ्यात्मक खोज से हटकर, मूलतः चिन्तनात्मक और समीक्षात्मक होता है, जो अस्तित्व की समस्त चीजों-जड़ एवं जीव को एक विशिष्ट चिन्तनशैली में ढालकर एक व्यवस्था प्रदान करता है। दार्शनिक अनुसंधान करते समय अनुसंधानकर्ता आन्तरिक अनुभव और बाह्य परिस्थितियों का गम्भीरतापूर्वक श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने के पश्चात् सामान्य निष्कर्षों तक पहुंचता है, हालांकि उन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लिया जाता है। अन्य दार्शनिक एवं विद्वान भी उनकी जांच-पड़ताल करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक शोध का स्वरूप एक सतत् चिन्तन, निष्कर्ष और समीक्षा की गहन प्रक्रिया है।

अतः उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन एक व्यापक चिन्तन एवं शोध है और जब हम दार्शनिक अनुसंधान की बात करते हैं तो दर्शन का स्वरूप ज्ञानमीमांसात्मक, तात्त्विक और नीतिपरक भी सिद्ध होता है। दार्शनिक शोध गहन तार्किक तथा सैद्धांतिक विश्लेषण के रूप में समस्त जीव-जगत् का विवेचन करता है। अतः दार्शनिक अनुसंधान का स्वरूप मूलतः दार्शनिक और साथ ही ज्ञानात्मक, तात्त्विक, चिन्तनात्मक, तार्किक तथा आदर्शात्मक अथवा नीतिपरक भी है। वह अन्य विज्ञानों की भांति निरा तथ्यात्मक नहीं है, हालांकि उसके अन्तर्गत तथ्यों की अवहेलना नहीं की जाती, अपितु तथ्यों के अध्ययन से दार्शनिक निष्कर्ष अवतरित किए जाते हैं। जहाँ तक दार्शनिक अनुसंधान के विषय का संबंध है वह ज्ञान तथा चिन्तनात्मक विषयों से संबंधित जिज्ञासा है, जैसा कि प्लेटो ने कहा अथवा संदेह है, जैसा कि देकार्त ने माना। दार्शनिक अनुसंधान ज्ञान के दृश्य एवं अदृश्य

क्षेत्रों की खोज करता है। उसके अध्ययन का विषय वह भी है जो हमारे व्यवहार एवं प्रयोग की पहुँच से बाहर है। ईश्वर का स्वरूप तथा अस्तित्व, आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत् का संबंध, आवागमन तथा मोक्ष, पुनर्जन्म तथा कर्मफल, मृत्युपरान्त स्थिति, सामाजिक एवं धार्मिक समस्यायें, मनुष्य एवं पर्यावरण, मनुष्य एवं आचार आदि कुछ ऐसे विचार हैं जो दार्शनिक अनुसंधान के विषय हैं। इनके अतिरिक्त दार्शनिक अनुसंधान के विषय के अन्तर्गत मूल्य आधारित विवेचन भी आते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दार्शनिक अनुसंधान का मूल विषय अथवा लक्ष्य- जीव-जगत् के समस्त पक्षों का विश्लेषण करके एक विश्व-दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है, जिसके अन्तर्गत परम-तत्त्व की खोज भी सम्मिलित है। दार्शनिक अनुसंधान जीवन की एक ऐसी सुसंगत व्यवस्था करता है ताकि मनुष्य अंधविश्वास, चमत्कार, अज्ञान तथा अधूरी बातों पर आधारित विचारों एवं बातों से बच सके। दार्शनिक अनुसंधान की मुख्य विशेषता यह है कि वह निष्पक्ष एवं तर्कसंगत होता है और वह अपने निष्कर्षों को अन्तिम नहीं मानता। अतः दार्शनिक अनुसंधान सदैव चलने वाली प्रक्रिया है और उसका विषय भी सदैव समीक्षा की सीमा में रहता है। वैसे दार्शनिक अनुसंधान विज्ञान नहीं है, फिर भी वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। दोनों का विषय व उद्देश्य सत्य की खोज है। अतः दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। दोनों में निष्पक्षता और व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार दार्शनिक अनुसंधान चिन्तन, जिज्ञासा, निष्पक्षता, अनुभव, बुद्धि और तर्क से निर्देशित एक ऐसी प्रक्रिया है जो सत्य की खोज में निरन्तर संलग्न रहती है। उसकी विषय-वस्तु वह सब-कुछ है जिसका दृश्य तथा अदृश्य रूप में अस्तित्व है। यदि समस्याएँ अथवा विषय दार्शनिक हैं तो उनका हल भी दार्शनिक दृष्टिकोण से ही होता है, जिसमें सार्वभौमता, निष्पक्षता, व्यवस्था आदि विशेषताएँ सन्निहित होती हैं।

दर्शनशास्त्र एक ऐसा व्यापक एवं सार्वभौम चिन्तन है, जो मानव जीवन के व्यक्तिगत, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों को प्रभावित करता है। दर्शन व्यक्ति के जीवन को ज्ञान, सत्य तथा सद्गुणों से अभिप्रेरित करता है। दर्शन जीवन को एक व्यापक तथा सार्थक दृष्टिकोण प्रदान करके उसे अनेक ऐसे मूल्यों से ओतप्रोत बनाता है, जिनसे जीवन में आनंद की अनुभूति होती है, वह ज्ञान प्राप्ति के अनेक अवसर प्रदान करता है। कहा जाता है कि भारतीय दर्शन भारत के जन-जन में फैला हुआ है और प्रत्येक व्यक्ति स्वयं किसी न किसी दार्शनिक सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ होता है। इसके अलावा मार्क्सवादी दर्शन ने सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक और अस्तित्ववादी दर्शन ने वैयक्तिक जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया है। भारतीय दर्शन व्यक्ति को मोक्ष की ओर संप्रेरित करता है जो मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। भारतीय दर्शन मानव स्थिति तथा सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या करके उनमें समन्वय स्थापित करता है। दर्शनशास्त्र एक ऐसा विषय है जिसका मानव के दैनिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। मानव जीवन में जो अनेक निर्णय या विश्वास होते हैं वे मात्र भूख, प्यास अथवा शारीरिक दशाओं, आदतों तथा बाह्य

पर्यावरण तत्त्वों से प्रेरित नहीं होते हैं, वरन् वे हमारे दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रेरित होते हैं। ज्ञात अथवा अज्ञात ढंग से हमारे शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, पाप-पुण्य संबंधी विचार तथा विश्वास भी हमें प्रभावित करते हैं। इस प्रकार दर्शनशास्त्र का मानव जीवन में अटूट स्थान है। दर्शनशास्त्र सत्य की खोज में निरन्तर प्रयासरत रहता है। अतः उसका प्रभाव व्यक्तियों और समूहों के सम्पूर्ण जीवन पर पड़ता है।

किसी भी विषय का व्यवस्थित अध्ययन करने के लिये तथा विषय को पूर्ण रूप से समझने के लिये विषय की शोध प्रविधियों को जानना अति आवश्यक है। दर्शन एक ऐसा विषय है, जो प्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन एवं मानव समाज को सम्पूर्णता में जानने का प्रयास करता है, इसलिये यदि हम दर्शन की शोध प्रविधियों का अध्ययन कर लेते हैं, तो समस्त विषयों को अच्छी तरह से समझ सकते हैं, क्योंकि समस्त विषय हमारे ज्ञान से सम्बन्धित होते हैं और ज्ञान का सम्पूर्ण रूप में अध्ययन दर्शन विषय के अन्तर्गत मुख्य रूप से किया जाता है। दर्शन में मानव ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया गया है:— प्रत्यक्ष ज्ञान एवं अप्रत्यक्ष ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हमारी बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है, परन्तु अप्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिये हमें तर्क की एक विशेष प्रविधियों का सहारा लेना पड़ता है, वैसे तो इस अप्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिये सभी विषय जिन प्रविधियों का प्रयोग करते हैं, वे समस्त प्रविधियों मूल रूप से दर्शन की ही प्रविधियों होती हैं। यही कारण है कि इन प्रविधियों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन दर्शन विषय के अन्तर्गत ही किया जाता है, जिनमें दो विधियाँ प्रमुख हैं— आगमन एवं निगमन। आगमन विधि के द्वारा हम किसी भी वस्तु या विचार अथवा जड़ या चेतन पदार्थ की क्रिया एवं उपयोग के बारे में सामान्य धारणा का निर्माण करते हैं, जिससे हमारा सामान्य जीवन सुचारु रूप से चलता है। निगमन विधि में हम इस सामान्य धारणा के आधार पर वस्तु विशेष के बारे में निष्कर्ष प्राप्त करते हैं अर्थात् वस्तु विशेष के कार्य एवं उसके उपयोग की पहचान करते हैं और इन विधियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही हम अपने जीवन में वस्तु के उपयोग के बारे में भेद कर पाते हैं, चूँकि ये दोनों विधियाँ मनुष्य के सामान्य जीवन से जुड़ी हैं, इसीलिये सभी विषयों में अध्ययन के लिये इन दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है अथवा हम कह सकते हैं कि सभी विषयों को अपना अध्ययन एवं अनुसंधान आगे बढ़ाने के लिये दर्शन की इन दो विधियों का प्रयोग किसी न किसी रूप में करना ही पड़ता है अर्थात् हम दावों के साथ यह कह सकते हैं कि इन दो विधियों के बिना किसी भी विषय में अध्ययन एवं अनुसंधान नहीं किया जा सकता। इसीलिये सभी विषयों को अपने अध्ययन एवं अनुसंधान के लिये दर्शन की विधियों की शरण में आना ही पड़ता है। इन महत्वपूर्ण प्रविधियों के अलावा दर्शन की अन्य महत्वपूर्ण विधियाँ भी हैं, जैसे भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ।

भारतीय दर्शन का अर्थ

भारतीय दर्शन वह दर्शन है जो मानव जीवन में किसी भी प्रकार के दुःख, कष्ट अथवा समस्या के निवारण के हेतु अपने चिन्तन का प्रारम्भ करता है, चिन्तन की इस

प्रक्रिया में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत हमें तीन प्रकार की चिन्तनधाराएँ मिलती हैं। एक प्राचीन चिन्तनधारा जिसकी खोज ऐसे निःस्वार्थी एवं निष्पक्ष चिन्तकों के द्वारा की गयी, जिनके द्वारा एक ऐसे ज्ञान का सृजन किया गया, जिसके पालन करने से, मनुष्य अपने जीवन की समस्याओं का निवारण, सरलता पूर्वक कर सकता था और ये महापुरुष ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने इस चिन्तन पर अपना सर्वाधिकार सुरक्षित रखना भी स्वीकार नहीं किया। अतः ऐसा चिन्तन अपौरुषेय कहलाया। संभवतः ऐसे ही चिन्तन को बाद में वेद नाम से सम्बोधित किया गया, परन्तु कालक्रम में इस निष्पक्ष चिन्तन को जब कुछ स्वार्थी लोगों ने अपनी रोजी-रोटी का माध्यम बनाने का प्रयास किया तो संभवतः उन्होंने इस चिन्तन में अपनी रोजी-रोटी से सम्बन्धित अनेक कल्पनाएँ जोड़ दी और उनको अन्धविश्वास एवं रूढ़िओं में परिवर्तित करके, अनेक प्रकार के कर्मकाण्डों के साथ जोड़ दिया गया, जिसका एक मात्र उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना रहा होगा, परन्तु समाज में ऐसे भी जनमानस रहे जो इस लाभ कमाने की सोच को अच्छी तरह से जानते हो अथवा इस लाभ पर अपना अधिकार जमाने का प्रयास करने के लिये संघर्ष करते रहे हो। परिणामस्वरूप भारतीय समाज में अनेक प्रकार की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याएँ पैदा हो गयीं। जिनका विरोध करती हुए भारतीय दर्शन की चिन्तन परम्परा में एक नयी चिन्तनधारा का पदार्पण हुआ, जिसको हम नास्तिक परम्परा के रूप में जानते हैं, जो वेद की इस नवीन अन्धविश्वासी परम्परा में विश्वास नहीं करती थी और जिसका मुख्य उद्देश्य था, जनमानस को रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के प्रति जागरूक करना, जिसका नेतृत्व चार्वाक दार्शनिक सम्प्रदाय ने किया और इस सम्प्रदाय अथवा आन्दोलन से जुड़े महापुरुषों ने जनमानस को यह बताया की मनुष्य अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं अपने प्रयासों एवं बुद्धि से कर सकता है। इसके लिये किसी पारलौकिक शक्ति में विश्वास एवं किसी प्रकार के कर्मकाण्ड का सहारा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके बाद नास्तिक परम्परा में बौद्ध एवं जैन दार्शनिक सम्प्रदायों का पदार्पण होता है, जो न केवल रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का विरोध करते हैं, अपितु उस मार्ग को भी बताते हैं, जिनका पालन करके मनुष्य अपने जीवन की समस्याओं का समाधान कर सकता है। इसके बाद भारतीय चिन्तन परम्परा में वैदिक परम्परा का अनुसरण करते हुये, नये दर्शनों का पदार्पण होता है, जिनका उद्देश्य था पुरानी परम्पराओं को पुनर्जिवित करते हुए, ऐसे मार्ग की स्थापना करना जिसमें मानव जीवन की समस्याओं का समाधान भी हो जाये और वैदिक परम्परा का विरोध करने वाले नास्तिक सम्प्रदायों के विरोध का भी जवाब दे दिया जाये, इस क्रम में भारतीय दर्शन के अन्तर्गत छः दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्त हमें मिलते हैं, जिनके अन्तर्गत :—सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त को रखा जाता है और वेद की मान्यता में विश्वास रखने के कारण इनको आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदाय कहा जाता है।

भारत एक ऐसा देश रहा है, जहाँ प्रकृति ने मानव आवश्यकता की समस्त वस्तुओं का प्रबन्ध उपहार के रूप मानव उत्पत्ति के साथ ही कर दिया था, इसीलिये

यहां के निवासियों को अपनी मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति के लिये, अन्य देशों के लोगों के समान कहीं ओर देश एवं स्थानों पर भटकना नहीं पड़ा। अतः यहाँ के निवासियों के पास चिन्तन, मनन एवं अनुसंधान का पर्याप्त समय रहा, जिसके परिणामस्वरूप यहां के महापुरुषों ने चिन्तन एवं अनुसंधान की, ऐसी-ऐसी प्रविधियों की खोज एवं स्थापना की, जो अन्यत्र कहीं मिलना दुर्लभ है। इसी क्रम में भारतीय दर्शन का अध्ययन एवं अनुसंधान करने पर हमें विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विधियां प्राप्त होती हैं।

भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ

श्रमनि-प्रविधि

इस विधि का प्रयोग भारतीय दर्शनों में व्यापक रूप से किया जाता था, जो प्राचीन काल की एक ऐसी परम्परा थी जिसके द्वारा ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बिना लिखें ही हस्तान्तरित किया जाता था। श्रमनि-विधि त्रयगीय पद्धति है, जो श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन पर आधारित है अर्थात् इन तीनों दार्शनिक क्रियाओं का संयुक्त नाम ही श्रमनि-विधि है। श्रवण द्वारा मनुष्य अपने समय तक के अनुभवों से लाभ उठाता है। जिज्ञासु श्रुति अथवा गुरु द्वारा मानव-जाति के प्रमाणिक अनुभवों को प्राप्त करता है। जिज्ञासु श्रद्धा से प्रारम्भ होकर, तर्क-वितर्क द्वारा आलोचना एवं समीक्षा करता हुआ, पुरानी त्रुटियों के प्रति विद्रोह भी करता है। इसी अवस्था को मनन कहा गया है। इसमें विभिन्न सिद्धान्तों का निरीक्षण तथा परीक्षण करके, भूलों एवं दोषों को सुधारा जाता है, तत्पश्चात् जिज्ञासु निदिध्यासन द्वारा चित्तवृत्तियों के निरोध की स्थिति में पहुँच कर सत् को स्वीकार करता है और इस प्रकार अनेक दार्शनिक तत्त्वों अथवा सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना करता है।

आलोचनात्मक विश्लेषण प्रविधि

इसमें पूर्व-स्थापित सिद्धान्तों का विश्लेषण एवं आलोचना होती है। यह विधि समीक्षा पर अत्यधिक बल देती है, ताकि सिद्धान्तों को सत्य की कसौटी पर खरा उतारा जा सके। यह तर्कना प्रधान पद्धति है। उदाहरण के रूप में हम.....

अन्वय-व्यतिरेक प्रविधि

दर्शन में मात्र आलोचना एवं समीक्षा या विश्लेषण से सत्य की खोज करना सम्भव नहीं है। सत्य की अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा भी पुष्टि करना आवश्यक है। इस पद्धति का प्रयोग न्याय दर्शन में किया गया है, जिसमें साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही के द्वारा स्थापित होता है। यह विधि व्याप्ति का ज्ञान अन्वय तथा व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली द्वारा करवाती है। इसे नव्य-न्याय ने अनुमानों के भेदों के सन्दर्भ में स्थापित किया था।

समन्वयवादी-प्रविधि

भारतीय दर्शन में प्रयुक्त होने वाली यह विधि पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो एवं कार्ल मार्क्स की द्वन्द्वात्मक-विधियों से भिन्न है। जैसा की ऊपर कहा गया है कि किसी पक्ष का मात्र आलोचना तथा समीक्षा या विश्लेषण से सत्यान्वेषण नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें भी एकांगीपन की त्रुटि आ जाया करती है। चिन्तक किसी एकांगी सापेक्षिक बात को सत्य मान लेता है। ऐसी स्थिति में फिर सक्रिय समन्वयवादी पद्धति की आवश्यकता

पड़ती है। इस विधि में पारस्परिक विरोध को दूर करते हुए, विचार की गति एवं क्रिया को जागरूक रखकर समन्वय स्थापित करने का प्रयास जारी रहता है ताकि सत्य का सम्पूर्ण चित्र स्पष्ट हो जाए।

पहेली-प्रविधि

इस पद्धति का उपयोग भारतीय दर्शन के उपनिषद् ग्रन्थों में समय-समय पर किया है। जैसे शाण्डिल्य का यह कथन की ब्रह्म 'तज्जलान्' है, ब्रह्म की भूत-मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की मूल-कारणता के प्रतिपादन का ही रहस्य-मय स्वरूप है। विद्या तथा अविद्या और सम्भूति तथा असम्भूति की गूढात्मक त्रयी का निरूपण करते समय दोनों सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिलक्षित होने वाले विरोधाभास के समन्वय की ओर संकेत करते हुए ईशावास्योपनिषद् के ऋषि ने भी इसी पद्धति का आश्रय लिया है। इस पहेली पद्धति का सबसे उत्तम उदाहरण श्वेताश्वतरोपनिषद् में मिलता है, जहाँ सत्य को वर्तुलाकार चक्र की भाँति बतलाया गया है, तीनों गुण जिसकी कोटियाँ हैं, सोलह कलायें जिसके प्रान्त हैं, पंचाशत भाव जिसकी तीलिकायें हैं; दस इन्द्रियों तथा उनके विषय जिसकी प्रति-तीलिकायें हैं; अष्ट-धातु, अष्ट-ईश्वर, अष्ट-प्रकृति आदि जिसके अष्टक हैं; विराट-पुरुष जिसका एक मात्र रज्जु-बन्धन है, नीति, अनीति तथा उभयातीति अथवा पाप, पुण्य तथा पाप-पुण्यात्मक कर्म जिसके तीन पथ हैं; और जो पाप-पुण्यात्मक कर्म द्वारा जीवात्मा को अज्ञान तथा मोह के गर्त में डाल देता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्-कार हमें बतलाता है कि वह उस महाप्रकृति का ध्यान करता है, जो एक महान् जल-पटल की भाँति है; जिसे इन्द्रिय रूपी सरितायें निरन्तर भर रही हैं; पंचभूत रूपी निर्झर जिसे भयंकर तथा विकराल बनाते हैं; पंच प्राण जिसकी लहरें हैं; अन्तःकरण-पंचक जिसका उदगम है; इन्द्रियों के पंच-विषय जिसके भ्रमर हैं, जिनमें मनुष्य चक्कर काटता है, उत्पत्ति, स्थिति, विकृति, क्षय और नाश से प्रसूत विविध दुःख जिसके प्रवाह हैं; जो सांख्य-दर्शन के अर्ध-शत-भाव रूपी धाराओं में प्रवाहित होता है; और अन्त में जन्म, शैशव, योवन, जरा तथा मृत्यु जिसके पाँच कालानुकूल ज्वार हैं। जहाँ-तहाँ ऐसे ही रूपाकात्मक प्रयोगों के बिना दर्शन-मीमांसा नीरस तथा रूक्ष हो जाती है। प्लेटो ने भी इसी पद्धति का अनुशीलन कर एक मनोहर तथा रहस्य-मय उक्ति कही है कि—एक पुरुष तथा अपुरुष ने, एक वृक्ष तथा अवृक्ष पर, एक पक्षी तथा अपक्षी को देखकर तथा न देखकर, एक प्रस्तर तथा अप्रस्तर से उसका वध तथा अवध किया।

सूत्र-प्रविधि

माण्डूक्योपनिषद् में सूत्र-पद्धति का अनुशीलन किया गया है, जिसके आदर्श पर परवर्ती दर्शन-पद्धतियों के सूत्र-साहित्य की सृष्टि हुई। इस पद्धति की विशेषता यह है कि यह समस्त विचार-तत्व को एक छोटे से भाव-पूर्ण वाक्य में संगठित कर भर देती है तथा भाष्यकार को उसके अर्थनिरूपण के समय भली प्रकार सर खुजलाने के लिये छोड़ देती है। सम्भवतः यही कारण है कि एक ही वेदान्त-सूत्रों के भिन्न-भिन्न भाष्य-कारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। माण्डूक्योपनिषद् का कथन है कि "ऊँकार ही विश्व की एक मात्र शाश्वत तथा मूल

सत्ता है; इसमें भूत, वर्तमान; भविष्यत् तथा कालातीत सभी सन्निहित है। वस्तुतः यह सब ब्रह्म है। आत्मा चतुष्पदी है; प्रथम पद वैश्वानर है, जो जाग्रत अवस्था में समस्त जड़ पदार्थों का उपभोग करता है; द्वितीय पद तेजस् है, जो स्वप्नावस्था में उत्तम वस्तुओं का उपभोग करता है; तृतीय पद प्रज्ञा है, जो सुषुप्ति अवस्था में आनन्द का उपभोग करता है; चतुर्थ पद आत्मा है, जो एकमेवाद्वितीय, एकाकिनी, प्रशान्त और पवित्र है।" वस्तुतः इसी सूत्र के मूलाधार पर परवर्ती वेदान्त-दर्शन की पद्धतियों के भव्य प्रासाद निर्मित हुये हैं।

व्युत्पत्ति-प्रविधि

उपनिषद्-कार भी ब्राह्मण-कालीन शब्दोत्पत्ति पद्धति के प्रभाव से, जो उपनिषद्-काल तक दार्शनिक विचार-संस्कार को प्रभावित करती रही थी, अछूते न रह सके। छान्दोग्योपनिषद् में इस व्युत्पत्ति पद्धति द्वारा अर्थ-निरूपण के अनेक उदाहरण मिलेंगे। 'स्वपिति' की 'सत्ता सम्पन्नो भवति' अथवा 'स्वमापितो भवति' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके उसका अर्थ 'आत्मरूपता' किया गया है। 'अशिशिषति' की 'अप एवं तदशितम् नयन्ते' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके 'समस्त खाद्य पानी द्वारा बाहर निकल जाता है' यह अर्थ किया गया है। 'पिपासति' की तेज एवं तत्पीतम् नयन्ते' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके 'हम जो कुछ पीते हैं वह सब अग्नि सुखा देती है' यह अर्थ किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् का कथन है कि 'पुरुष' का वास्तविक अर्थ 'पुरिश्य' अर्थात् 'हृदय रूपी कोट में निवास करने वाला' है। अन्त में, माण्डूक्योपनिषद् जैसी परवर्ती उपनिषद् में हम देखते हैं कि ऊँकार के प्रथम अक्षर 'अ'कार का अर्थ इसके आदिमत्व गुण के कारण 'आप्ति' है; द्वितीय अक्षर 'उ'कार का अर्थ इसके उभयत्व सूचकभाव के कारण 'उत्कर्ष' है; और तृतीय अक्षर 'म'कार का अर्थ इसके माप अथवा नाश सूचक भाव के कारण 'मिति' अथवा 'अपिति' है। किन्तु ऐसी शब्द-पहेलियाँ उपनिषदीय वांग्मय में यत्र-तत्र ही पाई जाती हैं। इसका श्रेय उपनिषद्-कारों की सुलझी हुई चिन्तन-शैली तथा स्पष्ट विवेचनपद्धति को है।

कथा-प्रविधि

उपनिषदों में कथा-पद्धति का भी प्रायः अनुसरण किया गया है। इस पद्धति का उपयोग एक तो कथा द्वारा नीति-तत्त्व के प्रतिपादन के लिए किया जाता है-इसका उदाहरण केनोपनिषद् की इन्द्र और अप्सरा की कथा है, जिसका उद्देश्य नम्रता का उपदेश अथवा दूसरे शब्दों में विनम्रता के बिना ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है। इस पद्धति के उपयोग का दूसरा प्रयोजन कार्य-कारण-वाद का प्रतिपादन हो सकता है। उदाहरण के लिये विशाल ब्रह्माण्ड के गर्भ से सूर्य के उदय की कथा है। असत्-जन्य सत् से उत्पन्न मूल-ब्रह्माण्ड से सृष्टि-क्रम के उदय तथा विकास-पथ का निर्देशन इस कथा में मिल सकता है। उपनिषदों में अतीन्द्रिय-ज्ञान-विषयक कथाओं का भी अभाव नहीं है। ऐतरेयोपनिषद् में हम देखते हैं कि किस प्रकार आत्मा ब्रह्मरन्ध्र द्वारा मनुष्य के मस्तक में प्रविष्ट होकर जीवात्मा के रूप में परिणत हो जाती है; किन्तु वहाँ से भी अपने मूल उत्पत्ति स्थान की ओर देखकर अपनी आत्ममत्ता का निर्णय करती है। व्यंग के लिये भी कुछ कथायें मिलती

हैं। जैसे छान्दोग्योपनिषद् की 'श्वान-उदगीथ' की प्रसिद्ध कथा, जिसके अनुसार "एक बार बकदाल्भ्य, जिसे ग्लाव-मैत्रेय भी कहते हैं, वेदपाठ करने के लिये एकान्त स्थान में गया। उसे सामने एक सफेद कुत्ता दिखाई दिया। शीघ्र ही कुत्तों का एक समूह इस कुत्ते के पास आ गया और सफेद कुत्ते से कुछ मन्त्र-गान करने की प्रार्थना करने लगा, क्योंकि वे सभी कुत्ते बहुत भूखे थे और उन्हें आशा थी कि मन्त्र-बल से सफेद कुत्ता उनके लिये भोजन उत्पन्न कर देगा। सफेद कुत्ते ने उनसे अगले दिन प्रातःकाल आने को कहा। बकदाल्भ्य मन्त्र-गान के इस श्वान-संगीत का स्वाद चखने के कुतूहल से अगले दिन प्रातःकाल श्वान-सम्मेलन देखने आया। पूर्व निश्चय के अनुकूल सभी श्वान वहाँ एकत्र हुये। जिस प्रकार यज्ञ के समय ब्राह्मण एक दूसरे का उत्तरीय पकड़कर मन्त्र-गान करते हुये वेदिका की परिक्रमा करते हैं, उसी प्रकार वे श्वान भी एक दूसरे की पूंछ पकड़कर चकाकार घूमने लगे। फिर बैठ कर यह मन्त्र-गान आरम्भ किया- "हिम! ऊँ! आओ खायें; ऊँ ! आओ पियें; ऊँ ! देवता हमें भोजन दे; ओ ! भोजन-देवता ! हमें भोजन दो; हमें भोजन दो; ऊँ ! इस कहानी से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हमें भौतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये मन्त्र-साधना करने वालों को लक्ष्य कर गढ़ा हुआ प्रहसन सा है। ऐसा ज्ञात होता है कि यह श्वान-संगीत, जिसे 'श्वानउदगीथ' कहा गया है, ब्राह्मण-कालीन बाह्य-कर्मकाण्ड के प्रति निर्भर्त्सना प्रदर्शन तथा भौतिक उद्देश्य की अपेक्षा आध्यात्मिक ध्येय की महत्ता का प्रतिपादन है।

दृष्टान्त-प्रविधि

उपनिषदों में दृष्टान्त-पद्धति का प्रयोग भी प्रचुरता से किया गया है। आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति-क्रिया के ज्ञान के लिए याज्ञवल्क्य द्वारा दिये गये दुन्दुभी, शंख, वीणा आदि के दृष्टान्त इस पद्धति के उदाहरण हैं। आरुणि द्वारा आत्मा तथा परमात्मा के अभेद-निर्देशन के उदाहरण-स्वरूप दिया रसों का दृष्टान्त, जो मधु के नियोजक-तत्त्व होने के कारण उससे भिन्न नहीं रहते; अथवा नदियों का दृष्टान्त जो पानी में मिलकर उससे एकरूप हो जाता है, आदि अनेक उदाहरण दृष्टान्त-पद्धति की इस विशेषता के परिचायक हैं कि जिन सिद्धान्तों का स्पष्ट निरूपण भलीभाँति नहीं हो सकता वे दृष्टान्त-पद्धति के मनोरम चित्र-प्रयोगों की सहायता से सुगम हो जाते हैं।

संवाद-प्रविधि

संवाद-पद्धति उपनिषदीय मीमांसाओं की सबसे अधिक प्रचलित पद्धति है। उपनिषदीय दर्शन के विकास पथ पर पद-पद पर इसका प्रयोग मिलता है। ध्यान रखना चाहिये कि उपनिषदों के सम्बन्ध में संवाद-पद्धति से अभिप्राय, उसके मूल अर्थ में, दो या अधिक पुरुषों के परस्पर वार्तालाप से है; अतः यह प्लेटो तथा हीगल के ब्रह्मज्ञान अथवा परा-विद्या से भिन्न है। प्रायः संवाद भीषण वाद-विवाद के रूप में परिणत हो जाते हैं, जैसा कि जनक की सभा में होने वाली विद्वत्परिषद् में होता है, जो अपने अन्तिम प्रतिपक्षी के शाकल्य के प्रति याज्ञवल्क्य के कठोर शाप-वचनों के कारण खेद-जनक प्रसंग हो जाता है। सारांश यह है कि यदि प्रमुख तत्त्व-ज्ञानी की श्रेष्ठता को अव्यक्त-रूप से स्वीकृत न कर लिया जाय तो संवाद

प्रायः कलह के रूप में परिणत हो जाता है, जैसा कि जनक की सभा में हुआ। इस प्रकार उसका खेद-जनक अन्त प्रायः स्वाभाविक हो जाता है।

समन्वय-प्रविधि

दार्शनिक विवेचन की समन्वय-पद्धति की प्रकृति संवाद-पद्धति के विपरीत है। इसका अभिप्राय विघातक नहीं, विधायक है। इसका उद्देश्य भिन्न-भिन्न बिखरे हुए सिद्धान्तों को संगठित करके एक मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है, जैसा कि छान्दोग्योपनिषद् के अश्वपति कैकेय ने सृष्टि-विधान-शास्त्र के तत्व-ज्ञानी छः ऋषियों के छः पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों के समन्वय द्वारा किया; अथवा प्रश्नोपनिषद् के पिप्पलाद ने छः ऋषियों के मनोविज्ञान-मूलक परतत्व-शास्त्र-सम्बन्धी छः प्रश्नों के समन्वय द्वारा किया; अथवा अन्त में, वृहदारण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय में जनक द्वारा संलक्षित छः परतत्व-शास्त्र-सम्बन्धी विचार (सूत्रों) के समन्वय द्वारा याज्ञवल्क्य ने किया। यहाँ इसका उद्देश्य न तो पू भी मेरी ही तरह का सा तर्क उपस्थित करना है और न कोई विचार-हीन स्पष्ट उत्तर ही, किन्तु दूसरों के द्वारा संलक्षित विचार-तत्वों की सहानुभूति-पूर्ण विवेचना-पूर्वक उनका उत्कृष्ट समन्वय करना है।

आत्मोक्ति-प्रविधि

आत्मोक्ति-पद्धति की प्रकृति संवाद-पद्धति तथा समन्वय-पद्धति दोनों के विपरीत है। उपनिषदीय ऋषि तत्व-ज्ञान के वितरण में प्रायः बड़े सतर्क होते थे; किन्तु बहुधा ऐसा होता था कि जिज्ञासु के प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के बाद वे अपने को कुछ भूलकर-से तथा आत्म-संज्ञक-से होकर स्वयं मुखर चिन्तन में लीन हो जाते थे। जनक की सभा में एक बार याज्ञवल्क्य के साथ यही हुआ। उद्दालक के प्रश्नों का उत्तर देने के बाद वे अपने को कुछ भूल से गये और भरी सभा में मुखर रूप से 'अन्तर्यामी ब्रह्म' इस प्रसिद्ध पद द्वारा ईश्वर की सर्व-व्यापकता का ध्यान करने लगे। याज्ञवल्क्य के साथ ऐसा एक बार और भी हुआ, जब वृहदारण्यकोपनिषद् के चौथे अध्याय में, वे जनक से संवाद करते समय आत्मा के अव्यय-स्वरूप के विषय में सब कुछ कह गये। अन्त में, कठोपनिषद् में यद्यपि यम-नचिकेतस के तीसरे प्रश्न का उत्तर देने को तैयार न था, किन्तु जब एक बार उसने बोलना आरम्भ किया तो उसके मुख से एक आत्म-संज्ञक तत्व-ज्ञान-परक प्रवचन निकलने लगा, जो मूल प्रश्न की सीमाओं को भी पार कर गया। प्रायः मेषों के साथ ऐसा होता है कि या तो वे बरसते ही नहीं, या, यदि बरसते हैं, तो निरन्तर अजस्र गति से। यही सिद्धान्त उपनिषदीय ऋषियों के विषय में भी सत्य है। वे या तो बोलते नहीं, या, यदि बोलते हैं तो उनके प्रवचन की सीमा नहीं रहती।

प्रयोजन-प्रविधि

जहाँ उपनिषदों में याज्ञवल्क्य जैसे उन्मुक्त हृदय-तत्व-ज्ञानी हैं, वहाँ उनमें पात्र की सामर्थ्य तथा प्रसंग की प्रयोजनीयता के अनुरूप ज्ञान-वितरण करने वाले सचेतन ऋषियों का भी अभाव नहीं है। प्रश्न के केन्द्र-परिधि की सीमाओं की सचेतनता उनमें प्रायः पाई जाती है। ऐसे अवसर पर वे तात्कालिक प्रसंग से इतर विषय पर तनिक भी प्रकाश नहीं पड़ने देते थे। इन्द्र-विरोचन की प्रसिद्ध कथा में उनके आचार्य प्रजापति

उनको तत्व-ज्ञान के रहस्य सहसा नहीं बतला देते। तत्व-ज्ञान का थोड़ा सा भी रहस्य वे तभी खोलते हैं, जब दोनों में से कम कोई एक अपने को अभीष्ट ज्ञान का अधिकारी सिद्ध नहीं कर देता। विरोचन को प्रजापति के प्रथम उत्तर से ही पूर्ण सन्तुष्टि हो जाती है; किन्तु इन्द्र को इतने से सन्तोष नहीं होता, और वह आचार्य को अपनी शंकाओं के समाधान के लिए बार-बार बाध्य करता है, तब अन्ततः प्रजापति ने अपने तत्व-ज्ञान का रहस्य खोला। आत्मा-विषयक जिज्ञासा का फल यह निकला कि आत्मा शरीर की दूसरी प्रतिमा मात्र नहीं है, और न स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं की सचेतन आत्मा से उसकी एक-रूपता है, किन्तु वह आत्मरूप ही है। इस प्रकार प्रजापति ने अपने शिष्यों को केवल उतना ही ज्ञान प्रदान किया, जितने के वे पात्र थे, तथा जितने की प्रयोजन क अनुकूल आवश्यकता थी; और इस प्रकार हमारे लिए उपनिषदीय दर्शन-मीमांसा में प्रयुक्त प्रयोजन-पद्धति का एक उत्तम उदाहरण उपस्थित किया।

प्रतिगमन-प्रविधि

भारतीय दर्शन की पद्धतियों के क्रम में इस प्रतिगमन पद्धति का महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इसमें प्रश्न-परम्परा की प्रगति का अनुगमन किया जाता है। प्रत्येक नवीन प्रश्न का उत्तर हमें एक पद पीछे ले जाता है और इस प्रकार हम मूल प्रश्न तक पहुँच जाते हैं। वृहदारण्यकोपनिषद् में एक बार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि 'मनुष्य की ज्योति का अधिष्ठान क्या है तो उन्होंने इसी पद्धति के अनुकूल उत्तर दिया कि 'सूर्य'। जनक ने याज्ञवल्क्य से लगातार कई प्रश्न किये और प्रत्येक प्रश्न के उत्तर पर एक नवीन प्रश्न द्वारा वे याज्ञवल्क्य को कमशः सूर्य, सूर्य से शशि, शशि से अग्नि तथा अग्नि से, इसी प्रकार, आत्मा तक ले गए जो सबके मूल में स्वतः प्रदीप्त ज्योति के रूप में स्थित है। एक बार गार्गी से संवाद करते हुए भी याज्ञवल्क्य ने इसी पद्धति का अनुशीलन किया। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा कि 'जल का अधिष्ठान क्या है ? तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया 'वायु'। इस पर गार्गी ने प्रश्न किया कि 'वायु के पीछे क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'अन्तरिक्ष'। इसी प्रकार प्रश्न पर प्रश्न करती हुई गार्गी याज्ञवल्क्य को अन्तरिक्ष। इसी प्रकार प्रश्न पर प्रश्न करती हुई गार्गी याज्ञवल्क्य को अन्तरिक्ष से सूर्यलोक, सूर्यलोक से चन्द्रलोक, चन्द्रलोक से नक्षत्रलोक, नक्षत्रलोक से देवलोक और अन्ततः ब्रह्मलोक तक ले गई। किन्तु ब्रह्मलोक के भी आगे क्या है, यह जानने की जिज्ञासा द्वारा उसने साधरण जीवन में तथा विशेषकर दार्शनिक समीक्षा में स्त्री जाति की स्वाभाविक और प्रतिबन्ध-हीन जिज्ञासा-प्रवृत्ति का परिचय दे दिया जो विवेचन को एक अन्तहीन प्रतिगमन-पथ पर ले जाती है। गार्गी के चापल्य से क्षुब्ध होकर, एक मात्र समुचित तथा अपनी प्रकृति के अनुरूप उत्तर द्वारा प्रश्न-प्रगति को रोक दिया- 'यदि अब की बार तूने प्रश्न किया तो तेरा सिर धड़ से अलग होगा।'

काव्य-प्रविधि

भारतीय दर्शन की आस्तिक परम्परा विशेष रूप से उपनिषदीय परम्परा में काव्य-पद्धति तत्व-समीक्षा का एक और स्वरूप है, परन्तु इस पद्धति में एक दोष है कि काव्य के आवरण में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए जाते हैं,

वे दर्शन के अबाधित सत्य नहीं समझे जा सकते। जहाँ सत्य की प्रकृति के प्रति भक्ति तथा भावोन्मेष जाग्रत करने की आवश्यकता हो अथवा जहाँ तत्वज्ञान रहस्यात्मक आत्मानुभूति का विषय हो, वहाँ यह काव्य-पद्धति निस्संदेह बहुत उपादेय सिद्ध होती। किन्तु, ऐसी स्थिति में ऋषियों ने छन्दप्रतिबन्ध की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। ऐसे स्थानों पर जो छन्द प्रयुक्त किए गए हैं वे प्रायः मुक्त तथा विषम हैं, यद्यपि अपनी स्वच्छन्दता के कारण ये बड़े मनोहर जान पड़ते हैं। प्राचीन रोम और ग्रीस की भविष्यवक्ताओं की भाँति, जो अपने उपासना-परक मूल्यों की तल्लीनता में आत्म-विस्मृत हो जाते थे, तथा इस पारलौकिक आत्माधिकृति की प्रभाव-तरंग में स्वर्गीय संगीत गा उठते थे, उपनिषदीय-काव्य ऋंगार तथा वीर रसात्मक अथवा प्रकृति वर्णनात्मक होने की अपेक्षा रहस्यात्मक अनुभूति-परक, नीतिपरक तथा परतत्त्व-मूलक है।

आध्यात्मिक-प्रविधि

आध्यात्मिक-पद्धति में बताया जाता है कि किस प्रकार हम परम-सत्य की कल्पना तक पहुँचते हैं। जैसे वृदारण्यकोपनिषद् में राजा जनक और याज्ञवल्क्य के एक संवाद से हमें ज्ञात होता है कि एक बार याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से पूछा कि उन्होंने परम-सत्य के विषय में कौन-कौन से आध्यात्मिक सिद्धान्त सुने। जनक बड़े जिज्ञासु तथा दार्शनिक वृत्ति के राजा थे। इसलिये वे अनेक ऋषियों से प्राप्त परम-सत्य विषयक सभी सिद्धान्तों को जानते थे। अतः उन्होंने याज्ञवल्क्य को भिन्न तत्व-ज्ञानियों के मत सुनाना आरम्भ किया। राजा जनक ने कहा कि "जीत्वन शैलिनी ने मुझे बतलाया कि वाक् परम-सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि "यह केवल आंशिक सत्य है, तब राजा जनक ने कहा कि "उदन्क शौल्वायन ने मुझे बतलाया कि "प्राण परम-सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने कहा कि " वह आंशिक सत्य है।" फिर राजा जनक ने कहा कि "वार्कुवाष्णी ने मुझे बतलाया कि "नेत्र परम सत्य है।" याज्ञवल्क्य ने कहा कि यह भी आंशिक सत्य है।" राजा जनक ने कहा कि "गर्दभी विपीत भारद्वाज ने मुझे बतलाया कि श्रवण परम सत्य है; सत्यकाम जाबाल ने मुझे बतलाया कि मन परम सत्य है। विदग्ध शाकल्य ने मुझे बतलाया कि हृदय परम सत्य है। याज्ञवल्क्य ने सबके लिये यही कहा कि ये सब आंशिक सत्य हैं। परम सत्य के विविध आधिदैहिक और आध्यात्मिक अधिष्ठानों के विषय में उपनिषदीय तत्व-ज्ञानियों के भिन्न-भिन्न मतों की यह गणना तथा याज्ञवल्क्य के क्रमशः सबके खंडन में यह भाव अभिप्रेत है कि परम सत्य केवल आत्मा में ही पाया जा सकता है, संयोगिक अधिष्ठानों में नहीं जो आत्मा के आवरण-मात्र है। इसी कल्पना का विकास केनोपनिषद् में किया गया है जहाँ हमें यह बतलाया गया है कि "आत्मा को श्रवण का भी श्रवण, मन का भी मन, वाक् का भी वाक्, नेत्र का भी नेत्र मानना चाहिये। जो इस रूप में आत्मा को पहचानते हैं वे संसार से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं।" जिसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती, किन्तु जो वाणी को अभिव्यक्ति प्रदान करती है। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, किन्तु जो मन की उपासना करते हैं। जिसकी कल्पना करने में मन असमर्थ है, किन्तु जो मन की कल्पना करती

है, उसी को परम सत्य समझो। जिसे देखने में नेत्र असमर्थ है, किन्तु जिसके द्वारा हम नेत्रों को देखते हैं, वही परम सत्य है। जिसे श्रवण सुन नहीं सकते किन्तु जो हमें श्रवण ज्ञान की शक्ति प्रदान करती है, उसी को परम सत्य समझो।" इस अवतरण में हमें यह बतलाया गया है कि आत्मा को अन्तरतम सत्ता मानना चाहिये, आधिदैहिक तथा मानसिक अधिष्ठान तो इसके उपाधि रूप बाह्य आवरण मात्र है, सत्य के वास्तविक स्वरूप नहीं।

खण्डन-मण्डन प्रविधि

भारतीय दर्शन की यह प्रमुख विशेषता रही है कि सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपने दर्शन की स्थापना के पूर्व पूर्ववर्ती दर्शन सम्प्रदाय का पहले खण्डन करते हैं और फिर अपने दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना करते हैं। जैसे शंकराचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना के पूर्व सर्वप्रथम अद्वैत दर्शन के प्रधान मल कहे जाने वाले सांख्य-दर्शन का खण्डन किया और फिर वैशेषिक मत का खण्डन किया। इसके बाद ईश्वर की केवल निमित्तकारणता का खण्डन किया और फिर ईश्वरपरिणामवाद का खण्डन किया। इनके बाद बौद्ध मत के सर्वास्तवाद, क्षणभंगवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद का खण्डन करके अपने मत की प्रतिष्ठापना करते हुए कहते हैं कि आत्मानुभूति जीवन का चरम लक्ष्य है। द्वैतवादी अपने-अपने मतों की पुष्टि करने के लिये परस्पर विवाद करते हैं, किन्तु अद्वैत का किसी से कोई विवाद नहीं है। ब्रह्मात्मज्ञान के विषय में तत्वदर्शी ऋषियों के श्रुतिसंगृहीत वाक्य प्रमाण है और उनके विवेचन के लिये सुतर्क प्रमाण है। शंकराचार्य ने इसे बार-बार स्पष्ट किया है कि वे पर-मत-खण्डन में इसीलिये प्रवृत्त होते हैं क्योंकि ये श्रुति-प्रतिकूल मत परमात्मतत्त्व के सम्यक् निरूपण में प्रतिबन्धभूत हैं। अविचारपूर्वक किसी विमत को मानने पर लक्ष्य-च्युति और अनर्थ-प्राप्ति हो सकती है। अतः सम्यग्दर्शन के प्रतिपक्षभूत दर्शनों का निराकरण आवश्यक है जिससे मुमुक्षु जन सम्यग्दर्शन द्वारा निःश्रेयस प्राप्त कर सकें। आचार्य का कथन है कि वे इसी दृष्टि से परमत-खण्डन में प्रवृत्त हुये हैं। उन्हें तार्किकों के समान शुष्क वाद-विवाद और वितण्डा में किंचित् भी रुचि नहीं है क्योंकि यह श्रेयोमार्ग के प्रतिकूल है।

मध्यम मार्गीय प्रविधि

इस विधि का प्रयोग ऐसे चिन्तनशील लोगों के द्वारा किया जाता है, जो न तो अपने को पूर्ण रूप से भौतिकवादी मानते और न अपने को पूर्ण रूप से अध्यात्मवादी मानते हैं, ऐसे दार्शनिकों एवं चिन्तकों के द्वारा जिस विधि का अनुसरण किया जाता है, वहीं विधि मध्यम मार्गीय विधि कहलाती। इस विधि का प्रयोग भारतीय दर्शन के अन्तर्गत हमें नास्तिक परम्परा के बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय में मिलता है। इस मत के अनुयायी विभिन्न अतियों में पड़ना नहीं चाहते, क्योंकि वे न तो घोर-तपस्यावाद को चाहते हैं और न सांसारिक-भोगवाद को। उन्होंने दोनों का परित्याग करके मध्यम मार्ग अपनाया। इसीलिए उन्हें 'माध्यमिक' नाम से पुकारते हैं। ये लोग 'शून्य' को ही परम तत्त्व मानते हैं। इसलिए उन्हें शून्यवादी तथा उनके दर्शन को शून्यवाद कहा भी कहा जाता है। शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन थे। 'माध्यमिक-कारिका' उनका ही रचित ग्रन्थ है। बुद्ध-चरित्र

के प्रणेता अश्वघोष और चतुःशतिका के रचयिता आर्यदेव भी शून्यवाद के समर्थक दार्शनिक हुए हैं। शून्यवाद के अनुसार शून्य ही एकमात्र तत्त्व है और यह न तो बाह्य सत्ता को मानता है और न अन्तःसत्ता को ही स्वीकारता है, परन्तु यह शून्यता सर्ववैनाशिकता नहीं है, अपितु सतत्-प्रवाह है जिसके स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसे ज्ञात की कोटियों में नहीं रखा जा सकता। यह परमतत्त्व अथवा शून्यता 'वर्णनातीत' है। माध्यमिक कारिका के अनुसार,

“न सत्रासत्र सदसत्र चाप्यनुभयात्मकम्।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।

अर्थात् मानव-बुद्धि यह निश्चित नहीं कह सकती कि जगत् का यथार्थ स्वरूप

1. सत्य है या
2. असत्य है या
3. सत्य या असत्य दोनों है या
4. न तो सत्य है और न असत्य है।

इस प्रकार इस जगत् का पारमार्थिक स्वरूप अवर्णनीय है। नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद के विकसित रूप को 'शून्यवाद' के नाम से पुकारते हैं। उनकी दृष्टि में यह प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यवाद है और इसे ही 'माध्यमिक मत' भी कहते हैं। यह शून्यता जगत् की निरन्तर परिवर्तनशीलता है। इसलिए वह अवर्णनीय कही गई है। इस शून्यता का आधार प्रतीत्यसमुत्पाद तथा मध्यम-मार्ग है। शून्यवाद वस्तुओं को न तो सर्वथा निरपेक्ष तथा आत्मनिर्भर मानता है और न वस्तुओं को पूर्णतः असत्य ही कहता है। यह वस्तुओं के निरन्तर परिवर्तनशील स्वरूप को स्वरूप को मानता है, जो प्रतीत्यसमुत्पाद तथा माध्यमिक मत के अनुरूप है। यह शून्यवाद एक प्रकार का सापेक्षवाद भी है, क्योंकि शून्यवाद के अनुसार वस्तुओं का प्रत्येक धर्म अन्य वस्तुओं पर आश्रित होता है। सापेक्षवाद भी यही मानता है कि वस्तुओं का स्वतंत्र तथा निरपेक्ष अस्तित्व न होकर, परस्पर सम्बद्ध है। माध्यमिक-शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन के अनुसार दो प्रकार के सत्य हैं, जिन पर बुद्ध के धर्म-सम्बन्धी उपदेश निर्भर हैं। एक है 'संवृतिसत्य' जो व्यावहारिक या लौकिक (Empirical) है और सभी साधारण मनुष्यों के लिए है। दूसरा है 'पारमार्थिक सत्य' जो अनुभवातीत तथा अलौकिक है। इनका विवरण इस प्रकार है

संवृतिसत्य को अविद्या या अज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि वह सब पदार्थों पर आवरण करता है। अतः इसे 'संवृति' कहते हैं। इसके भी दो भेद होते हैं— सत्यसंवृति और मिथ्यासंवृति। दोषरहित इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष सत्यसंवृति है। यह केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है, लेकिन दोषपूर्ण इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्ष मिथ्यासंवृति है जो व्यावहारिक दृष्टि से असत्य है।

पारमार्थिक सत्य का अर्थ है

समस्त धर्मों की निःस्वभावता। इसे ही शून्यता कहते हैं जो अवर्णनीय तथा अनुभवातीत है। यह वाणी और मन दोनों से अगोचर है। इसके स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह न शून्य है और न अशून्य। केवल संकेत भर के लिए इसे शून्य कहा गया है। वस्तुतः यह शून्यता ही परमार्थ सत्य है जो इन्द्रियातीत, कल्पनातीत और अनिर्वचनीय है। इस पारमार्थिक सत्य की

प्राप्ति केवल निर्वाणावस्था में ही होती है। यह निर्वाण ही माध्यमिक पद्धति का चरम लक्ष्य है।

स्यादवादी प्रवृत्ति

भारतीय दर्शन में कुछ ऐसे भी चिन्तक हुए, जिनका मानना है कि साधारण दृष्टि से मनुष्य जब किसी भी जड़-चेतन पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है, तो उसका यह ज्ञान पूर्ण रूप से सत्य नहीं होता, उसका यह ज्ञान आंशिक रूप से ही सत्य हो सकता है और किसी भी जड़ एवं चेतन पदार्थ का हम कभी भी पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते और यदि किसी विधि से पूर्ण ज्ञान प्राप्त भी कर लेते हैं तो उसकी पूर्ण रूप से व्याख्या नहीं कर सकते, तो फिर इस ज्ञान की पूर्ण एवं सन्तोषजनक व्याख्या करने की हमारे पास कौन सी विधि होनी चाहिए? इस प्रश्न के समाधान के लिये ही जैन दार्शनिकों ने एक ऐसी पद्धति की खोज की जिसे हम स्यादवादी विधि के नाम से जानते हैं। जैनीयों के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान पूरा नहीं है, क्योंकि किसी वस्तु के कई पहलू हैं, उनमें सबों का एक साथ ज्ञान प्राप्त करना केवल ज्ञान से ही संभव है, सामान्य ज्ञान से नहीं। हमारा ज्ञान एकांगी ही हो सकता है, क्योंकि हम अपूर्ण जीव ही तो हैं। सभी दार्शनिकों में विवाद का यही कारण है। परमार्थ के केवल एक विशिष्ट पक्ष का अवलोकन कर सकने के कारण वे केवल एक विशिष्ट पक्ष को ही जान सकते हैं। जैनी इस सिद्धान्त को 'नय' के नाम से पुकारते हैं। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं अर्थात् "अनन्त-धर्मक वस्तु"। केवल ही केवल-ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनन्त धर्मों का अपरोक्ष ज्ञान पाता है, पर यह सामान्य पुरुष के लिए सम्भव नहीं है। वह तो वस्तु के आंशिक दृष्टिकोण को ही जान पाता है। वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को 'नय' कहा गया है। इस आंशिक ज्ञान आधार पर जो परामर्श (Judgement) होता है, वह भी 'नय' कहलाता है। प्रत्येक परामर्श सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता केवल उसके 'नय' तक सीमित होती है। इसकी उपेक्षा करने से ही, हम किसी परामर्श को सर्वथा सत्य मान लेते हैं। फलतः दोष कर बैठते हैं। यहाँ एक ऐसे हाथी का उदाहरण प्रस्तुत है जिसे कुछ अन्धे लोग जानने का प्रयास करते हैं। एक अन्धा हाथी की पूँछ पकड़कर कहता है कि हाथी एक मोटे रस्से के समान है; दूसरा पेट को छूकर कहता है कि हाथी एक दीवार के समान है; तीसरा कान स्पर्श कर मानता है कि हाथी एक सूप के समान है; और चौथा पैर पकड़कर कहता है कि हाथी खम्बे के समान है। इन सबके दृष्टिकोणों में पूरा मतभेद है, क्योंकि उसमें से प्रत्येक यह सोचता है कि उसी का ज्ञान ठीक है। किन्तु अपनी-अपनी दृष्टि सब सही है। अतः यह मानना उचित है कि वस्तुओं में अनेक धर्म (गुण) होते हैं जिन्हें साधारण लोग आंशिक रूप में ही जान सकते हैं अर्थात् दर्शनों में जगत्, जीव आदि के बारे में जो भिन्न-भिन्न मत पाए जाते हैं, वे अपनी-अपनी दृष्टियों से सत्य हो सकते हैं। इसलिये किसी भी ज्ञान का वर्णन करने से पहले हमें स्यात् शब्द का प्रयोग करना चाहिए। यह नयवाद ही स्याद्वाद में अभिव्यक्त होता है, क्योंकि प्रत्येक नय में स्यात् शब्द का प्रयोग करना ठीक है। स्याद्वाद प्रत्येक ज्ञान को सम्भावित रूप में देखता है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है— 'हो सकता है', 'सम्भवतः है' या

‘शायद’। स्यात् शब्द को प्रत्येक नय या परामर्श के साथ जोड़ने का अर्थ यह होता है कि उसके साथ के प्रयुक्त वाक्य की सत्यता प्रसंग-विशेष पर ही आश्रित है अर्थात् किसी भी वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। हाथी के सन्दर्भ में सभी नय स्यात् शब्द के साथ जुड़ने से सत्य हो सकते हैं। इसी तरह भारतीय दर्शन में आत्मा को अनेक रूपों में देखा जाना सम्भव है। एक अन्य उदाहरण लें— यह घड़ा है, न कहकर हमें यह कहना चाहिए कि “ स्यात् यह घड़ा है।” इसका अर्थ यह होगा कि घड़े का अस्तित्व काल, स्थान तथा गुण विशेष के अनुसार है। स्यात् शब्द का अर्थ यह नहीं है कि घड़ा नित्य है तथा सर्वव्यापी है। इसका संकेत केवल इतना है कि घड़ा एक विशेष स्थान, कालादि में अवस्थित है जो अमुक रंग-रूप का है। जैन दर्शन में यह विधि ‘स्याद्वाद’ कहलाता है। अर्थात् किसी परामर्श (नय) के पूर्व ‘स्यात्’ शब्द का प्रयोग ही ‘स्याद्वाद’ है। इस स्याद्वाद का दूसरा नाम अनेकान्तवाद भी है, अर्थात् इस विधि का अर्थ है कि जिसमें किसी एक के अन्त का आग्रह न हो, किसी एक पक्ष-विशेष या धर्म-विशेष का आग्रह न हो। अनेकान्तवाद एक दृष्टिकोण, एक विचार दृष्टि है, वस्तुओं को समझने का एक ढंग है। अनेकान्तवाद की विधि अर्थात् वस्तुओं को अनेक दृष्टियों से देखने, विचारने का दृष्टिकोण, जैन दर्शन की आधारशीला है। यह दर्शन मानता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों, अनन्त विशेषताओं का समूह है अर्थात् वस्तु की प्रत्येक अवस्था पर विचार करना अनेकान्तवाद है और जैसा कि सिद्धसेन दिवाकर मानते हैं—‘इस अनेकान्त के बिना लोक का व्यवहार चल नहीं सकता।’ जैन दर्शन में इस अनेकान्तवाद को सात वाक्यों जिनको आप अच्छी तरह से जानते हैं, के संयुक्त रूप को सप्तभंगी नय की संज्ञा दी जाती है जिसके अनुसार, एक वस्तु का निश्चय करने के लिए, उस पर अनेक दृष्टियों से विचार करना पड़ता है। वस्तुओं के बारे में नयों की असीम संख्या है, पर जैनाचार्यों ने उन्हें सात अस्ति-नास्ति वाक्यों में ही विभक्त किया है। जैनदर्शन की इस स्याद्वादवादी विधि की तुलना यद्यपि पाश्चात्य सापेक्षवाद, व्यवहारवाद, आदि से की जाती है। लेकिन इस मत की कड़ी आलोचना भी की गई है। कुछ विद्वान जैनमत को संशयवाद या अज्ञेयवाद मानते हैं। परन्तु जैनों की यह स्याद्वादवादी विधि संशयवाद नहीं है, क्योंकि यहाँ स्यात् शब्द केवल सापेक्षता की ओर संकेत है, न की वस्तुओं के अज्ञेय रूप की ओर है। इसी विधि के सभी परामर्श या नय निश्चय ही

देश-काल में सीमित होते हैं, और ये तभी सत्य होते हैं, जब वे वस्तुओं के धर्मों को व्यक्त करते हैं।

उद्देश्य

इस शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य दर्शन एवं विशेष रूप से भारतीय परम्परा एवं दर्शन में रूची रखने वाले जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों को चिन्तन की इन सूक्ष्म प्रविधियों एवं चिन्तन के विभिन्न दृष्टिकोणों से परिचय कराना है। जिससे लाभ लेकर ऐसे जिज्ञासु आधुनिक वैज्ञानिक युग में अपने चिन्तन एवं अनुसंधान को नवीन दिशा दे और आधुनिक युग की दृष्टि से भारतीय चिन्तन की इन प्रविधियों की समीक्षा करके चिन्तन के नवीन आयाम स्थापित कर सकें।

निष्कर्ष

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिकों ने लौकिक एवं पारलौकिक जगत् को समझने के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्तन की प्रविधियों की खोज की और लगातार तत्त्व को जानने एवं समझने के लिए वे चिन्तन की गहराईयों में आगे बढ़ते रहे, ऐसा चिन्तन का अनुसंधान अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। भारतीय दर्शन की उपरोक्त प्रविधियों मानव की दृष्टि के अनेक दृष्टिकोणों को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। अतः हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि अवैदिक एवं वैदिक दर्शनों ने जो हमें मानव एवं जगत् को जानने एवं समझने की प्रविधियाँ प्रदान की हैं, वे चिन्तन के क्षेत्र की अमूल्य धरोहर हैं, जिनको वर्तमान युग में आगे बढ़ाने की आवश्यकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. श्रीमन्माधवाचार्यकृत, सर्वदर्शनसंग्रह (भाष्यकार-डॉ० उमाशंकर ‘ऋषि’), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, वर्ष-2001
2. डॉ० चक्रधर बिजलवान, भारतीय न्यायशास्त्र, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, वर्ष-19983.
3. वेबर, भारतीय अध्ययन, भाग एक एवं दो।
4. एस० एन० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-एक एवं दो, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-4, वर्ष-1988.
5. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-एक एवं दो, रालपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली, वर्ष-1998.
6. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, उपनिषद्-दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989.